

आश्रम

ढाका में श्री श्री माँ के एक आश्रम का अभाव सभी अनुभव कर रहे थे। एक दिन चौदनी रात थी। मैं शाहबाग गया। माँ ने कहा “चल, मैदान में चले।” पिताजी, माँ और मैं रमना के मैदान में जहाँ टूटा मन्दिर था उससे कुछ दूर जा बैठे। मैंने माँ के चरणों में निवेदन किया “शाहबाग में सर्वदा कीर्तन चलेगा नहीं, एक आश्रम की आवश्यकता है”। माँ बोली “सम्पूर्ण जगत् ही तो आश्रम है, नया आश्रम बना कर क्या करेगा?” मैंने कहा “हम लोग कुछ अधिक तो चाहते नहीं हैं केवल एक ऐसा स्थान चाहते हैं जहाँ आपके चरणों के चारों ओर बैठकर हमलोग कीर्तन कर सकें।” पिताजी ने भी मेरी बात में हाँ में हाँ मिलाया। माँ तब बोल उठीं। “यदि ऐसा ही कुछ करे तो यह टूटा घर है न, यही जगत् प्रशस्त है, यह तुम लोगों का पुराना घर है।” ऐसा कह हैंसते-हैंसते चुप हो गयीं। उस समय उस जगह पर एक टूटा शिव मन्दिर था, उसके चारों ओर ईंट, पत्थर का जङ्गल था। वहाँ अनेक प्रकार के साँप दिखाई दिया करते थे। आश्रम-प्रतिष्ठा के बाद भी वहाँ बड़े-बड़े साँप देखे। माँ तब किसी-किसी सोमवार को इस टूटे शिव मन्दिर में दूध केला चढ़ाया करती थीं। एक सोमवार को नयी हडिया में पाँच सात केले तथा कुछ कच्चा दूध रखा गया। सात दिन के बाद प्रायः रात के नौ दस बजे माँ ने जाकर देखा कि दूध केला जैसा

रखा गया था वैसा ही रखा हुआ है, एक चींटी तक वहाँ नहीं आयी। माँ ने जब स्वयम् वह दूध पीना चाहा तो बहुतों ने विरोध किया कि इतने दिनों से रखा हुआ दूध विषाक्त हो गया होगा। किन्तु माँ जो कहती हैं करके रहती हैं, उन्होंने एक घूँट पिया तो सब प्रसाद पाने के लिए व्यग्र हो उठे। बाकी वहाँ छोड़ दिया गया। दूसरे दिन सुबह वहाँ जाकर देखा तो हाँड़ी खाली मिली, मानो सब किसी ने चाट लिया हो।

खोज करने पर पता लगा कि पूर्वोक्त स्थान रमना काली की सम्पत्ति है। वहाँ के पुजारी श्रीयुत नित्यानन्द गिरि से पूछने पर उन्होंने कहा कि ६०००) से कम में यह जमीन नहीं देंगे। कुछ महीने बाद स्वर्गीय निरंजन के ढाका आने पर मैंने रुपया इकट्ठा करने की चेष्टा की। किन्तु कुछ न कर सका। १९२७ ई० के आरम्भ में मैं खूब बीमार हो गया। एक दिन निरञ्जन ने कहा, "मैमनसिंह गौरीपुर के जमींदार श्रीयुत ब्रजेन्द्रकिशोर राय चौधरी ने (१०००) दिये हैं, तुम जल्दी ठीक हो जाओ तो कुछ किया जायगा। निरंजन ने धीरे-धीरे और भी कुछ अर्थ संग्रह किया। किन्तु वह साधु ६०००) से कम में किसी तरह भी जमीन देने को राजी न हुए। प्रायः डेढ़ साल बीमार रह मैं फिर ढाका जाकर काम करने लगा। बहुत सी और जगहें भी आश्रम के लिए देखीं किन्तु माँ की बतायी हुई जगह को छोड़ और कोई जँची नहीं। किंकर्तव्यविमूढ़ होकर बैठ गया। १९२९ ई० के शुरू में माँ कलकत्ते में थीं। श्रीमान् विनयभूषण बनर्जी ने ढाका से कलकत्ते जाकर माँ के साथ आश्रम सम्बन्धी बातें कीं। उसने मुझे आकर इसे बताया मन में एक नवीन उत्साह जाग्रत हुआ। मैंने एक दिन

निश्चय किया कि आज ही गिरिजी से मिल कर अन्तिम निर्णय करूँगा। यह सोच कर जब घर से निकला तो देखा कि माँ की छायामूर्ति संग-संग चल रही है, तभी मुझे निश्चय हो गया कि आज कार्य सफल होगा। गिरिजी ने कहा "जब आप इतने रूपये नहीं दे पा रहे हैं तो कोई अस्थायी बन्दोबस्त कीजिए, अन्य स्थायी व्यवस्था बाद में हो सकती है। काली मन्दिर तो आप ही लोगों का है, उचित समझें वही कीजिए।" अनेक बहस के बाद ५००) नजराने के रूप में तथा ३००) सालाना मालगुजारी देने की शर्त हुई। इस प्रकार का बन्दोबस्त बहुतों को पसन्द नहीं आया, आ भी नहीं सकता। किन्तु आश्रम के लिए यही उपयुक्त स्थान था। माँ का आश्रम है वे ही जो जरूरी होगा करेंगी। हमलोगों को भविष्य के बारे में सोचना व्यर्थ है, यह सोच कर जमीन ले ली गयी। श्रीयुत् मथुरानाथ वसु, श्रीयुत् निशिकान्त मित्र तथा वृन्दावनचन्द्र बसाक इस विषय में विशेष उद्योगी थे। १३३५ बंगाल ३१ चैत्र (१९२९-१३ अप्रैल) उस पुराने टूटे घर में माँ का चरण स्पर्श कराया गया। निरञ्जन तब अपनी स्त्री के वियोग से व्यथित था। उस दिन वह भी वहाँ उपस्थित था। दो महीने बाद उसकी मृत्यु हुई थी। उसके ही माँगे हुए धन से आश्रम की भित्ति उठी, वे स्वामी-स्त्री यद्यपि आज जीवित नहीं हैं किन्तु माँ की चरण-रज के साथ उसका सम्बन्ध बना ही है। आश्रम के सम्बन्ध में माँ ने कहा था-आश्रम का माने ही है शुद्ध स्थान, जहाँ आने से मन में धर्म भावना उठे। सभी यह चेष्टा करें कि इसका वातावरण दिन रात साधन, भजन, सत्चिन्ता तथा सदालोचना आदि से विशुद्ध रहे। रहने के लिए २।१ छोटी-छोटी

कुटियाँ ही यथेष्ट हैं ।” इसी कारण सबसे पहले माँ के लिए एक छोटी सी झोपड़ी बनी ।

श्री श्री माँ का चलना-फिरना या भाव का खेल अचिन्तनीय रूप से अद्भुत है । कब क्या करती हैं तथा क्यों करती हैं इसे समझने या रोकने की चेष्टा व्यर्थ है । १९ वैशाख १३३६ बंगाब्द (१९२९ ई० २ मई) को श्री श्री माँ ने नये रमना आश्रम में प्रवेश किया । चारों ओर आनन्द ही आनन्द था । श्रीयुत बाउलचन्द्र बसाक ने आकर माँ को फूलों की माला मुकुट और कुण्डलों से कृष्ण रूप में सजाया । माँ भी सबके साथ हँसती खेलती रहीं । मैंने देखा कि इतने आनन्द में भी मानो सब निरानन्द हैं । मैं अकेला खड़ा माँ के हावभाव लक्ष्य कर रहा था । मुझे ऐसा लगा मानो उनकी दृष्टि तथा मन उदास हो इधर-उधर भटक रहा है । रात में दो बजे मैं घर लौट आया । दूसरे दिन शाम को पिताजी हमारे मुहल्ले में आये थे । किसी ने आकर सूचना दी कि वे शीघ्र ही आश्रम लौट आयें । पिताजी के साथ मैं भी वहाँ गया । रात के उस समय दस या साढ़े दस बजे होंगे । देखा कि सब उत्कण्ठित तथा दुःखी हैं । श्री श्री माँ आश्रम की सीमा से बाहर मैदान में बैठी हैं । मैंने सुना कि माँ सुबह से ही बाहर ही बाहर घूम रही हैं । पिताजी को देख माँ बोलीं, “इस शरीर के पिता के साथ कुछ दिन घूम जाऊँ, तुम आश्रम में रहो ।” पिताजी ने अनेक प्रतिवाद के बाद “अच्छा” कह कर सम्मति दी । अनेक ही माँ के साथ रेल के स्टेशन तक गये । मैं और पिताजी आश्रम में रहे । बाद में हम भी स्टेशन तक आये । हम दोनों ने माँ का संकल्प बदलने की बहुत चेष्टा की किन्तु माँ एकदम स्थिर थीं ।

मैमनसिंह की गाड़ी छूटने ही वाली थी । माँ गाड़ी में चढ़ गयीं, पिताजी ने मुझे माँ के साथ जाने का आदेश दिया और कहा कि यदि माँ मना भी करें तो तुम किसी और डिब्बे में बैठ जाना । उनकी बात मानकर मैं भी माँ के साथ रवाना हुआ । इस तरह रात को हठात् एक वस्त्र से मैमनसिंह की यात्रा के लिए चला तो मन में जो संघर्ष चल रहा था वह कहा नहीं जा सकता । सूर्य कर्मनिष्ठ है यह अत्यन्त सत्य है, प्रभात के प्रकाश के साथ ही आफिस और परिवार के अनेक कर्तव्य याद आने लगे । मनुष्य की कैसी दुर्गति ! संसार शृंखला का कैसा अटूट बन्धन है । जिसकी पदधूलि के स्पर्श के लिए अनेक वर्षों से प्राण आकुल था, जिन्होंने यम के हाथ से मेरा उद्धार किया उन्हीं के चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त कर भी मन भारी निरानन्द था । मुझे स्वयम् ऐसा लगा, मानो हमारी भक्ति श्रद्धा तो केवल क्षणिक उच्छ्वास है, यथार्थ में तो हम भोगवासना ही के सेवक हैं । माँ भी ऐसा ही कहती हैं “तुम लोगों की भक्ति और प्रीति तो शरीर पर हवा के समान ऊपर ही ऊपर खेलती है । अन्तर में जो अमृत का भण्डार है, उसे ही यदि नहीं खोल पाओगे तो असली वस्तु कहाँ से दे सकोगे ?” मैमनसिंह स्टेशन पर पहुँच कर मैंने माँ से पूछा “कहाँ जावेंगी ?” माँ ने कहा “पहाड़ की ओर ।” मैंने कहा “वर्षाकाल आने वाला है, वृद्ध पिता को लेकर पहाड़ पर जाना क्या ठीक होगा ? यदि आप अकेले में रहना चाहती हैं तो काक्सबाजार समुद्र के किनारे चलें ।” माँ चुप रहीं । साधारणतया देखा गया है कि माँ कोई बात दुहराती नहीं हैं । जब जो आदेश का संकेत हो तब बिना प्रतिवाद किये उसका पालन करना ही हम लोगों के

लिए उचित है। नहीं तो अनेक समय अनिष्ट घटता है। अनेक सोच विचारके बाद शाम की गाड़ी से काक्सबाजार चले। आशुगंज स्टेशन पर गाड़ी पहुँचते ही मेह बरसने तथा हवा चलने लगी। माँ ने कहा “यह क्या देख रहा है? कल और भी देखेगा।” दूसरे दिन चटगाँव पहुँच काक्सबाजार के लिए स्टीमर पर चढ़े। स्टीमर जब नदी पार कर समुद्र में पहुँचा तो तूफान आ गया। जहाज खूब हिलने लगा, जहाज के ऊपर से लहरें जाने लगीं। यात्री भयभीत होकर चिल्ला रहे थे, रो रहे थे किन्तु माँ का आनन्द कौन देखे ?

समुद्र की क्रीड़ा देख माँ बोलीं “देख कैसा अखण्ड कीर्तन चल रहा है, भक्ति और साधना द्वारा यदि मनुष्य उन्नति करना चाहे तो इस प्रकार के अखण्ड भाव से श्रवण, स्मरण और कीर्तन की आवश्यकता है।

काक्सबाजार में हमलोग आदिनाथ गये। मैं ढाका लौट आया। माँ वहीं रहीं। कुछ दिन बाद पिताजी आकर माँ को आदिनाथ से कलकत्ते ले गये। वहाँ से माँ अपने पिताजी के साथ हरिद्वार चली गयीं।

बाद में सहस्रधारा (देहरादून), अयोध्या, वाराणसी, विन्ध्याचल, नवद्वीप इत्यादि जगह घूम कर कलकत्ते जा पिताजी को भी साथ लेकर चाँदपुर आयीं। माँ के साथ कलकत्ते में मेरी भेंट हुई। मैंने सुना कि माँ बहुत दिनों से अपने भाव में जमीन पर चुपचाप पड़ी रहती हैं, मामूली कुछ फल और शरबत लेती हैं। मैंने देखा कि माँ यंत्रवत् किसी तरह चलती-फिरती हैं। माँ की उस समय की अवस्था देखकर मैंने सोचा कि भगवान् भी जब

मनुष्य देह धारण करते हैं तो उन्हें भी मनुष्यों के समान माया जगत् के अधीन होकर चलना होता है।

कुछ दिन बाद माँ और पिताजी चाँदपुर से ढाका सिद्धेश्वरी आश्रम में रहे। पिताजी बहुत बीमार पड़ गये। वह अनेक कष्ट झेलकर उठे कि माँ एकदम मरणासन्न सी हो बिस्तरे पर पड़ गयीं। माँ के इस पीड़ा के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

१९२९ ई० अक्टूबर के महीने में रमना आश्रम में टीन का एक छप्पर डाल कर काली मूर्ति वहाँ लायी गयी। १९३० ई० नवम्बर के महीने में एक रात एक चोर मूर्ति के हाथ तोड़ कर सोने के गहने चुरा ले गया। अब यह समस्या उठी कि खण्डित मूर्ति की पूजा नहीं हो सकती। इस विषय में अनेक स्थानों के पण्डितों से लिख कर पूछा गया। पण्डितवर श्री पञ्चानन तर्करत्न महाशय ने कहा कि यह ठीक है कि शास्त्र में खण्डित मूर्ति की पूजा का निषेध है किन्तु यहाँ जब एक विशिष्ट महापुरुष के आदेश और नैमित्तिक पूजा हो जाने पर भी कालीमूर्ति का विसर्जन न कर नित्य पूजा की व्यवस्था हुई है, तो वह जो विधान दें उसी के अनुसार चलना ठीक है। माँ के आदेशानुसार उसी मूर्ति का ही संस्कार कर पूजा होने लगी।^१

इसके पहले मैं प्रायः माँ से काली मूर्ति के लिए मन्दिर बनवाने का निवेदन करता था। तब माँ ने एक दिन हठात् ही कहा था “एक वर्ष ठहर।” ठीक इसी समय अर्थात् १९३१ ई० पहली जनवरी को श्री नगेन्द्रनाथ राय और श्रीमान् भूपतिनाथ

१. वह मूर्ति आजकल आश्रम के मन्दिर-गह्वर में है।

मित्र के विशेष उत्साह और परिश्रम से मन्दिर की नींव पड़ गयी । मन्दिर की नींव खोदने पर चार पाँच बैठी हुई और लेटी हुई छोटी-बड़ी समाधियाँ निकलीं । इन समाधियों के सम्बन्ध में माँ ने एक दिन बताया था “यहाँ की सब जगह बहुत पवित्र है, पहले यह संन्यासियों का स्थान था । तू भी उनमें से एक था । मैंने इनमें से कई एक महापुरुषों को यहाँ रमना के मैदान में घूमते देखा है । साधुओं की आन्तरिक इच्छा थी कि उन लोगों की समाधि पर मन्दिर की स्थापना हो एवं इस तरह देवपूजा साधन-भजन द्वारा यह स्थान जनसाधारण के धर्मभाव को जाग्रत कर पवित्रता की रक्षा करे । इसीलिए आज यहाँ ये सब कार्य हो रहे हैं । जो इस अनुष्ठान के सम्पर्क में आये हैं और आवेंगे उन सबका ही उन महापुरुषों के साथ में कुछ न कुछ सम्बन्ध था । मैंने माँ से जिज्ञासा की “यदि मैं किसी जन्म में संन्यासी था, तो आज यह अवस्था क्यों है ?” माँ ने उत्तर दिया “जिसके द्वारा जो काम करवाना आवश्यक है, कर्मक्षय न होने तक उसे उसी प्रकार के कामों में लिप्त रहना पड़ता है ।”

आश्रम के बनने से पहले जब माँ शाहबाग में थीं तब रोज शाम को कीर्तन हुआ करता था, तथा पूर्णिमा और अमावस की रात को बड़ी देर तक चलता था, एक दिन पूर्णिमा को रात के समय मैं अपने कमरे में लेटा था, ११ बजे का समय होगा, मैं तब तक जाग रहा था । मेरे कान में “हरे मुरारे मधुकैटभारे” की मधुर ध्वनि बहुत देर तक आती रही । शायद माँ आज कीर्तन में इस पद को गा रही होगी-मेरे मन में ऐसा भाव उठा । दूसरे दिन जाकर मैंने मालूम किया कि सचमुच माँ ने रात्रि में “हरे मुरारे

मधुकैटभारे गोपाल गोविन्द मुकुन्द सौरै” का केवल प्रथम अंश ही गाया था । किन्तु दुर्भाग्य ! ऐसा कृपामय आकर्षण होते हुए भी कीर्तन के लिए प्रेम न आता था । एक दिन शाम को मैं और निरंजन शाहबाग गये । कीर्तन हुआ । माँ ने आदेश दिया “आज जिन्होंने कीर्तन में योगदान नहीं किया है, वे सब नाम करें ।” मैंने और निरंजन ने अन्य जनों के साथ लज्जा और संकोच के साथ अस्पष्ट स्वर में नाम किया, किन्तु माँ के आदेश का अक्षरशः पालन नहीं कर सका इसके लिए मन में ग्लानि होने लगी । हठात् माँ बोल उठीं “आज तो शनिवार है, कल रविवार है, आज रात को तुम सब मिल कर कीर्तन ही क्यों न करो ?” निरंजन घर लौट गया, मैंने सारी रात कीर्तन में ही काटी । रात्रि के अन्तिम पहर में माँ ने प्रभाती सुर में “हरि हरि हरि हरि हरि हरि हरि बोल” गाया । मेरे प्राणों में एक अपूर्व उद्दीपना हुई । उस दिन से मुझे विश्वास हो गया कि साधन भजन में कीर्तन का स्थान किसी भी साधन से कम नहीं है । आज भी आश्रम में प्रत्येक शनिवार को जो कीर्तन होता है, वह उक्त रात (१९२६ ई० नवम्बर) से ही आरम्भ हुआ था । उसी दिन रात को हरिनाम के साथ माँ का नाम भी संयुक्त हुआ । उसके कुछ दिन बाद सप्ताह के प्रति दिन एक न एक के घर कीर्तन होने की व्यवस्था हुई ।

शाहबाग में कीर्तन के समय ‘हरिबोल’ कीर्तन ही अधिक होता था । बहुत बार मैं यह सोचता कि जब माँ ही सबके सब भावों की लक्ष्य हैं तो ‘माँ’ नाम कीर्तन ही उपयुक्त है । किसी किसी से मैंने कहा भी किन्तु किसी ने भी ध्यान नहीं दिया । मैं स्वयम् कीर्तन कर नहीं सकता था, इसलिए चुप रहा । श्रीमान्

अनाथबन्धु, ब्रह्मचारी कमलाकान्त के आश्रम में योग देने पर उनसे भी मैंने कहा “कीर्तन में माँ नाम लाने की चेष्टा करते चलो।” श्रीयुत कुलदाकान्त बनर्जी तब शाहबाग में नये-नये ही आये थे, धर्म कर्म पूजा आदि में उनकी बहुत निष्ठा थी, किन्तु वे भी ‘माँ’ नाम उपयुक्त होगा कि नहीं इस विषय में कुछ निश्चय न कर सके। खैर, हरि और माँ नाम मिलाकर कीर्तन चलने लगा। मनुष्यों का संस्कार-गत अभ्यास सहज में ही नहीं छूट सकता। विशेषतः धर्मानुशीलन में जो दस जन करते हैं, वही करना हम लोगों का स्वभाव है। जो बहुत दिनों से चला आ रहा है उसमें उलट-फेर करने में मन में आशंका भी होती है।

तब मैं सोचता था कि मेरे ध्यान में तो माँ की ही तस्वीर रहती है। शरीर और मन माँ की चरणरज स्पर्श करने के लिए आतुर रहते हैं, आँखों के सामने माँ की मूर्ति ही रहती है, माँ की बातें सुनने के लिए प्राण आकुल रहते हैं, अन्तर की श्रद्धा भक्ति की धारा उन्हीं के चरणों की ओर प्रवाहित रहती है और कीर्तन के समय यदि “प्राण गौरांग नित्यानन्द” अथवा “ऐसो हे गौर, बसो हे गौर आमार हृदय प्रांगणे” इस प्रकार का कीर्तन करूँ तो कीर्तन और मेरी चित्तगति का तनिक भी समन्वय नहीं हो सकता।

पूजा और ध्यान-धारणा की तरह कीर्तन का भी एकमात्र उद्देश्य अपनी चित्तवृत्ति को एकमुखी कर सब वासनाओं और कामनाओं को एगाग्र कर आराध्य देवता की ओर अभिमुख कर देना है। तब प्रायः ही मेरे मन में आता कि विविध पदावली के विचित्र भाव और राग में मन को आकृष्ट न कर इष्ट मूर्ति की ओर चित्त स्वतः ही आकर्षित हो ऐसा यदि गाने का भाव तथा सुर हो

तो भजन कीर्तन में प्राण आ जायगा तथा हमारे चित्त को भी परम आश्रय प्राप्त होगा।

यदि हम लोग एकनिष्ठ माँ के दास हो सकें तो एक माँ नाम के कीर्तन ही में साधु-भक्तों के पदों का माधुर्य तथा ऐश्वर्य खिल सकता है। माँ शब्द तो समस्त मानव जाति का आदि और नित्य शब्द है। पैदा होते ही यही पहला शब्द मनुष्य के मुख से निकलता है तथा जब तक जीवित रहता है तब तक वह प्रत्येक श्वास से ओम और निश्वास से माँ ही उच्चारित करता रहता है। विशेषतः यह माँ नाम सब जातियों और सम्प्रदायों की सहजात ध्वनि तथा परम सम्पद है।

यदि हम लोग वास्तव में माँ को जगत-जननी करके मानें तो नाम का कीर्तन ही हमारी सहज साधना होनी चाहिए।

इस समय कीर्तन में माँ का नाम प्रयुक्त कर मैंने एक गान की रचना की। वह यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

हरषे विषादे किवा सुखे दुखे
हिन्दी (हर्ष में विषाद में अथवा सुख दुःख में)
डाको मा मा मा मा मा
(पुकारो माँ माँ माँ माँ माँ)
माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ
मातृ गर्भ हते जखनि पड़िया
(मातृ-गर्भ से जभी बाहर आया)
निल तुलि कोले जननि आसिया
(माँ ने तभी गोदी में उठा लिया)

करिल दीक्षित मंत्रे ओंआ
 (ओंआ मंत्र से किया दीक्षित)
 डाकिते शिखिले मा मा मा
 (माँ माँ माँ सीखा पुकारना)
 आपनाते भर करिया आपनि
 (अपने ऊपर भरोसा कर)
 गियाछो भुलिया सेइ आदि ध्वनि
 (भूल गया वह आदि ध्वनि)
 ताइ वेदतंत्रे बेड़ाओं खूँजिया
 (इसीलिए वेदतंत्र में ढूँढते फिरो)
 असीम अनन्त सीमा ।
 (असीम अनन्त सीमा)
 यदि हदितत्त्व बूझिबारे चाओ
 (यदि हदतत्त्व समझना चाहो)
 नाम रूप सुर माँ बीजे डुबाओ
 (नाम रूप सुर माँ बीज में डुबाओ)
 भासो आँखि जले मा मा मा बले
 (अश्रुपूर्ण नेत्रों से माँ माँ माँ बोलो)
 करो पथेर सम्बल श्रीआनन्दमयी माँ
 (करो जीवन पथ का सम्बल श्रीआनन्दमयी माँ)

१९२८ ई० के प्रारम्भ में मैं गिरिडि में था । सहसा एक दिन माँ व पिताजी वहाँ आ पहुँचे । मैंने उन दोनों से निवेदन किया कि

और आश्रमों की तरह हमारे आश्रम में भी कीर्तन के एक विशेष नाम का प्रयोजन है । आश्रम की भावधारा, विचारधारा और कर्मधारा का जो केन्द्र है, यदि साधन और कीर्तन का सुर भी उसी नाम के साथ केन्द्रित हो जाय तो साधन-प्रचेष्टा में अधिक बल होगा । हरि और माँ नाम संयुक्त कर अनेक पद रचे गये जिनमें से एक ढाका में कुलदा दादा के पास भेजना स्थिर हुआ । माँ के जाने के बाद उसे ढाका भेजूँगा, इसी समय मेरे मन में एक प्रबल भाव का उदय हुआ और केवल माँ नाम का ही एक नया पद बन गया ।

माँ माँ माँ माँ माँ माँ
 बोलो माँ माँ माँ माँ
 कहो माँ माँ माँ माँ
 गाओ माँ माँ माँ माँ
 भजो माँ माँ माँ माँ
 जपो माँ माँ माँ माँ
 बोलो, गाओ, भजो, जपो माँ माँ माँ

यह ढाका कुलदा दादा के पास भेजा गया, उन्होंने लिखा इस पद ने सबको ही आकर्षित किया है एवं उसी प्रकार कीर्तन की व्यवस्था की गयी है ।

१. जिस प्रकार एक सुर से ही सा रे ग म इत्यादि सप्त विभाग हैं, उसी प्रकार एक माँ को लक्ष्य करके माँ, माँ, माँ, माँ, माँ, माँ, इन सात शब्दों में कीर्तन का पद बना । अभ्यास हो जाने से एक ही लक्ष्य तथा एक ही ध्वनि के आश्रय से चित्त को एकाग्र करना होता है । तब भावोन्माद सहज होता है, उस एक ध्वनि की स्पन्दन ही में सारी देह और मन के स्पन्दन में एकत्व होता है ।

यही 'माँ' का प्रथम सूत्रपात हुआ। अभाव हुए बिना मनुष्य प्रकृत भाव में नहीं आ सकता। जब उपरोक्त कीर्तन का पद प्रवर्तित हुआ तब कई महीनों से माँ ढाका से बाहर थीं, इसीलिए वियोगी विरही भक्तों के हृदय में मधुर माँ शब्द की पुकार की मधुरता अन्तरतम में भर गयी थी।

जब रमना आश्रम तैयार हुआ तो माँ के मुख से निकले हुए सूक्तों (जिनका उल्लेख पहले हो चुका है) के पदों का रोज कीर्तन से पहले भजन की तरह गान होता था। १३३६ बंगाब्द (१९३१ ई०) अग्रहायण के महीने के अन्तिम में एक दिन माँ ने मुझे बुला कर कहा "यह स्तोत्र अपूर्ण है, किसी अन्य भजन की व्यवस्था नहीं कर सकता?" आदेश पालन किया, सोचने लगा कि संस्कृत में तो अनेक जटिल स्तव-स्तुतियाँ हैं, जिस पर भी यदि अपने गुरुभाइयों के लिए सरल संस्कृत भाषा ही में भजन बने तो अच्छा रहेगा। कुछ दिनों बाद श्री श्री माँ के कल्याणमय संकेत से रात के तीन बजे प्रेरणा मिली और निम्नलिखित गान आप से आप रच गया—

भजन

(जय) हृदयवासिनी शुद्धा सनातनी (श्री) आनन्दमयी माँ ।
 भुवन-उज्ज्वला जननी निर्मला पुण्यविस्तारिणी माँ ॥
 राजराजेश्वरी स्वाहा स्वधा गौरी प्रणवरूपिणी माँ ।
 सौम्या सौम्यतरा सत्या मनोहरा पूर्णा परात्परा माँ ॥
 रविशशिकुण्डला महाव्योमकुन्तला विश्वरूपिणी माँ ।
 ऐश्वर्यभातिमा माधुर्यप्रतिमा महिमामण्डिता माँ ॥

रमा मनोरमा शान्तिशान्ता क्षमा सर्वदेवमयी माँ ।
 सुखदा वरदा भक्तिज्ञानदा कैवल्यदायिनी माँ ॥
 विश्वप्रसविनी विश्वपालिनी विश्वसंहारिणी माँ ।
 भक्तप्राणरूपा मूर्तिमतीकृता त्रिलोकतारिणी माँ ॥
 कार्यकारणभूता भेदाभेदातीता परमदेवदा माँ ।
 विद्याविनोदिनी योगि-जन-रंजिनी भवभयभंजिनी माँ ॥
 मंत्रबीजात्मिका वेदप्रकाशिका निखिलव्यापिका माँ ।
 सगुणा स्वरूपा निर्गुणा निरूपा महाभावमयी माँ ॥
 मुग्ध चराचर गाहे निरन्तर तव गुणमधुरिमा ।
 मोरां (हम) मिलि प्राणे प्राणे प्रणमि (श्री) चरणे जय जय जय माँ ॥

डाको माँ माँ माँ माँ माँ माँ
 बोलो माँ माँ माँ माँ माँ माँ
 गाओ माँ माँ माँ माँ माँ माँ
 भजो माँ माँ माँ माँ माँ माँ
 जपो माँ माँ माँ माँ माँ माँ
 डाको माँ माँ माँ माँ माँ माँ
 माँ माँ माँ

नवजीवन के पथ पर

श्री श्री माँ के प्रथम दर्शन लाभ के बाद ही से संसार के अनेक विघ्न-बाधाओं और दुःखों में भी नित्यानन्दमयी माँ की छवि तथा उनकी सरल स्निग्ध दृष्टि मुझे हर समय पागल की तरह आकुल कर रखती थी। उनकी कृपा-प्राप्ति के लिए हृदय में हर समय उत्कण्ठा रहती थी। महासागर की तरङ्गों का उच्छ्वास जिस प्रकार शून्य (आकाश) की ओर होता रहता है उसी प्रकार मेरे हृदय में माँ के चरणों को लक्ष्य कर दिन रात उच्छ्वास ध्वनि होती रहती थी। कभी कभी 'माँ' 'माँ' कह कर चिल्लाने से कुछ शान्ति बोध करता था। किन्तु आरम्भ में ऐसा सुयोग भी कम ही होता था।

श्री श्री माँ की स्थूल मूर्ति में नाना भावों के दर्शन मैं कर चुका था, इसलिए उनके सम्मुख जाकर मैं विस्मय और हर्ष से संकुचित हो जाता था। मेरे मन में तब ऐसा आता कि मैं एक मूढ़ दीन हीन भिखारी उनके श्री चरणों में बैठने के सर्वथा अयोग्य हूँ। उस समय मैं माँ के चरणों के पास न बैठ दूर ही खड़ा रहता था। प्रायः रोज ही सुबह उनके चरणों के प्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे ही प्राप्त होता था, क्योंकि उतने सबेरे बहुत ही कम लोग आश्रम जाया करते थे। किसी दिन माँ को नींद-भरी आँखों में गद्गद भाव से बिस्तरे पर बैठा पाता, कभी उनके चिरहास्यमय मधुर नेत्रों तथा मुख से वात्सल्य और करुणा की धारा का निर्झर

देखता तो शरत् के आकाश की तरह निर्मल उदार पुनीत प्रसन्नता का प्रसार देखता। उनके भावों के परिवर्तन के साथ उनके रूप में भी अन्तर होता चलता। कभी वृद्धा की तरह भी लगतीं। कभी हँसी खेल के बीच में भी हठात् अचल, अटल गाम्भीर्यपूर्ण मूर्ति हो जातीं। ऐसी अवस्था में देखा जाता कि माँ का शरीर कुछ फूल गया है एवं रुद्राणी की तरह एक देवी मूर्ति का आविर्भाव हुआ है। उस समय का उनका अट्टहास, रक्तनेत्र तथा हाथ पैर की चलन-भंगी जिन्होंने देखी है वे भयभीत हो गये हैं। किन्तु थोड़ी देर बाद ही उनकी सहज स्वाभाविक शान्ति लौट आती है।

किन्तु हर समय मैं, माँ का आकर्षण हृदय में दृढ़ भाव से अनुभव करता, उनके पास न जाने से कुछ भी अच्छा न लगता, कब थोड़ी देर के लिए ही माँ के चरणों में आश्रय पा सकूँगा सदैव एकमात्र यही ध्यान रहता। मुझे हर समय ऐसा लगता मानो, "आओ" "आओ" कहकर माँ मेरी अन्तरात्मा का आह्वान कर रही हैं, तथा हर समय अपलक नेत्रों से मेरी ओर ही देख रही हैं। अनेक बार कल्पित दृढ़ता के साथ उनकी चिन्ता को अन्तर से हटाने की चेष्टा की। किन्तु वे मेरी विरुद्ध इच्छा-शक्ति का उपहास कर मनबुद्धि को अनायास ही अपने अधिकृत कर लेतीं। मैं हैरान हो कर चेतनाहीन-सा पड़ा रहता। मातृभाव की इस चरम क्षुधा को शान्त करने का कोई उपाय नहीं खोज पाता था। इस प्रकार मेरा दुर्बल शरीर क्रमशः क्षीण होने लगा।

अन्त में १९२७ ई० ४ जनवरी को 'अब मुझसे नहीं रहा जाता' कहकर मैंने खाट पकड़ ली। रोग के प्रारम्भ से ही छाती में असहनीय यंत्रणा का अनुभव किया। किसी भी औषधि से

वह दर्द दूर नहीं हुआ। माँ एक दिन मुझे देखने आयीं, उन्होंने अपना हाथ मेरी छाती पर रखा, मानो सब ज्वाला शान्त हो गयी। पर क्रमशः रोग बढ़ता ही चला। डाक्टरों ने कहा कि यक्ष्मा रोग हो गया है। बाद में माँ एक दिन रात को आयीं और मेरे बिस्तरे के पास बैठ कर अपने आप ही क्या-क्या कहती रहीं। बहुत दिनों के बाद मैंने सुना था कि उन्होंने रोग की मूर्ति से कहा था “जो करना था वह तो कर दिया, अब बस यहीं ठहर जा।” इसके बाद से माँ ने मुझे दर्शन न दिया। सोचनीय तथा मृतवत् अवस्था होने पर भी कई महीनों तक माँ के श्री चरणों के दर्शनों का सौभाग्य नहीं हुआ।

ऐसा होना भी आवश्यक था। कारण उनकी विरह यंत्रणा की आकुलता मेरी रोग-यंत्रणा को बहुत कुछ शान्त रखती थी। मेरा लक्ष्य हमेशा माँ के श्री चरणों ही पर रहता था, वह सर्वमयी माँ मेरे अन्दर और बाहर सब जगह विराजित थीं। एक दिन शाहबाग में माँ बैठी थीं, उन्होंने देखा कि सबके मुँह में रक्त है। पिताजी यह सुनते ही रात को मुझे देखने आये, उस समय मुझे रक्त-वमन हो रहा था तथा मैं बिलकुल ही कातर पड़ा था। ऐसा अनेक बार ही हुआ है जब माँ शाहबाग में बैठी हुई मेरी खबर पाने से पहले मेरी उस समय की अवस्था के अनुरूप व्यवस्था बता दिया करती थीं।

एक दिन मेरी दशा बहुत खराब हो गयी। डाक्टरों ने जीवन की आशा बहुत कम बतायी। उस समय रात के दो बजे होंगे, बाहर खूब वृष्टि हो रही थी, चारों तरफ कुत्ते भौंक रहे थे। ऐसी विषम भयावह परिस्थिति से मेरे रोंगटे खड़े हो रहे थे। इसी

समय मैंने देखा कि माँ मेरे सिरहाने के दाहिनी ओर बैठी हैं। मुझे विस्मित होता देख माँ ने मेरे सिर पर हाथ रखा। तब से यद्यपि मैं आठ दस महीने और बीमार रहा किन्तु हर समय मुझे ऐसा लगता कि माँ धीर स्थिर भाव से मेरे सिरहाने बैठी हैं तथा वे मुझे मरने न देंगी। जब लगातार घण्टों खाँसी उठती तथा मैं दर्द से छटपटाता तो माँ का नाम जप करते-करते सब कष्ट दूर हो जाता। इसी बीच माँ को एक ख्याल आया, उन्होंने मुझे लक्ष्य करके ब्रह्मचारी श्रीमान् योगेशचन्द्र को एक वर्ष के लिए गृहहीन अवस्था में भिक्षात्र से अपना जीवन निर्वाह करने के लिए पश्चिम की ओर भेज दिया।

कुछ महीने बाद मैं शाहबाग के पास एक सरकारी मकान में आ गया। माँ तब कुम्भ मेले में हरिद्वार गयी थीं। मेरी हालत फिर बिगड़ने पर माँ के पास ऋषिकेश एक तार भेजा गया। किन्तु माँ नहीं आयीं। पीछे सुना कि जब तार पाकर पिताजी व्यस्त हुए तो माँ उनसे बोलीं “मुझे तो दीख रहा है कि वह मेरी गोद में निश्चिन्त लेटा है।”

रोग के प्रायः पाँच महीने बाद मैंने अपनी शक्ति आजमाने के लिए दीवाल पकड़ कर एक दो मिनट चलने की चेष्टा की। पर शाम को ही मुँह से रक्त आने लगा। डाक्टर ने यह सुनकर एकदम बिस्तरे पर लेटे रहने को कहा तथा इस नियम की रक्षा के लिए घर पर सभी को ध्यान देने के लिए चेता दिया।

उक्त घटना के चार-पाँच दिन बाद माँ ढाका लौटीं। मुझे देखने को जब आयीं तो पूछा “कैसा है?” मैंने कहा “और कुछ तो विशेष कष्ट नहीं है किन्तु इतने दिनों से स्नान न करने के कारण

कुछ बेचैनी लगती है।" तब वैशाख का महीना था। खूब गरमी थी। माँ कुछ देर बैठ कर चली गयीं। दूसरे दिन एक बजे लगभग आयीं। तब घर में सब ही सो रहे थे। मेरी ११, १२ साल की लड़की मेरी खाट के पास ही सो रही थी। माँ ने आकर कहा "तू स्नान करना चाहता था, यदि स्नान करना है तो वह जो पोखरा है उसमें जा स्नान कर आ।"

यह तालाब हमारे घर से प्रायः साठ-अस्सी गज दूर था। माँ की बात सुनते ही श्रद्धा-विश्वास-वश मेरे शरीर में एक नयी शक्ति जग उठी। शरीर में हड्डियों के सिवा और तो कुछ था नहीं और साथ में डाक्टर का लेटे रहने का आदेश भी था। ऐसी अवस्था में मैं बिस्तरे पर से उठ हाथ में कपड़े ले नहाने चल दिया, पिताजी ने मुझे पकड़ लिया और साथ में मुझे तालाब तक ले गये। कमरे की दहलीज तीन-चार हाथ ऊँची थी। सीढ़ी से उतरा तथा सारे रास्ते चलकर गया। तालाब सर्वसाधारण का नहीं था, उसके एक किनारे यूनिवर्सिटी का मुस्लिम बोर्डिंग था। कुछ दिन पहले पी० डब्ल्यू० डी० ने नोटिस भी दी थी कि इस तालाब पर नहाना और कपड़ा धोना मना है। उस दिन वहाँ बोर्डिंग में कोई दिखाई न दिया तथा घर में सब सो रहे थे। तालाब में उतरकर खूब आनन्द से स्नान किया; घर लौट कर गीले कपड़े अरगनी पर सूखने को डाल कर बिस्तरे पर लेट गया। मेरे लेटते ही लड़की जग गयी, उसने देखा कि माँ उसके पास बैठी हैं। स्नान करने जाते समय रास्ते के मैदान से बहुत से चिरचेटे काँटे कपड़े में लग गये थे। कपड़े उठाते समय खगा ने (नौकर का नाम) ये सब देख मेरी स्त्री से कहा। कपड़े हाथ में ले उन्होंने माँ

से कहा कि डाक्टर का कहा—मान कर ये दोपहर को मैदान में घूमते हैं। माँ हँसने लगीं, कुछ भी न कहा। किस अज्ञात अकथनीय शक्ति से प्रेरित हो मैं तालाब में जाकर स्नान कर आया तथा दिन का समय होने पर भी कोई न देख सका, यह सोच कर मैं विस्मित हुआ। तीन चार महीने के बाद जब मैं आबहवा बदलने के लिए ढाका जा रहा था तब यह बात सबसे पहले मैंने निरंजन को बतायी। बाद में जब फिर काम करने लगा तो डाक्टरों को भी यह बताया लेकिन उन लोगों को विश्वास नहीं हुआ। मेरी स्त्री को भी पहले विश्वास न हुआ किन्तु जब उसे कपड़ों में चिरचिटे लगना याद दिलाया तो उसे विश्वास हुआ।

बीमारी ही में एक दिन चावल खाने की प्रबल इच्छा हुई। डाक्टरों ने मना कर दिया। निरंजन ने जाकर माँ से कहा "माँ, ज्योतिषि को चावल खाने की इच्छा हो रही है, और डाक्टर मना कर रहे हैं, यदि उसका देहान्त हो जाय तो बड़ा दुःख रहेगा कि उसके मुँह में अन्न के दाने भी न दिये जा सकें।" माँ ने हँस कर कहा "तुम्हारी जब ऐसी इच्छा है तो उसे भात दिया जायगा।" इसके दूसरे दिन ही पिताजी ने शाहबाग से आकर सबसे छिपा कर मुझे दाल चावल खिलाया।

एक दिन सुबह ब्रह्मचारी कमलाकान्त ने मुझे चम्पा के फूल लाकर दिये। तब माँ रोज ही एक बार मुझे देखने आया करती थीं। उस दिन सुबह आकर चली गयी थीं। चम्पा के फूलों को देख मुझे दुःख हुआ कि माँ के चरणों पर न चढ़ा सका। शाम को कुलदा दादा एक बड़ा सुन्दर गुलाब का फूल ले उपस्थित हुए। उस फूल को भी माँ को न दे सका, यह सोच कर बहुत ही दुःख

हुआ। टेबिल पर चम्पा के फूलों के पास गुलाब का फूल भी रख दिया। इतने सुन्दर फूल और माँ के श्री चरणों पर न चढ़ाये जा सकें, इस दुःख से मेरा मन व्यथित था। ठीक इसी समय सहसा माँ ने बाहर से आकर कमरे में व्यस्त भाव से प्रवेश किया और टेबिल के पास जा त्रिभंग मूर्ति से खड़ी हो गयीं, उन्मने भाव से तीन चार मिनट मेरी ओर देखती रहीं फिर चली गयीं। मुझे ऐसा लगा कि माँ ने फूलों को ग्रहण किया है। देखा कि गुलाब का फूल नहीं था। दूसरे दिन माँ के आने पर फूल की बात मैंने पूछी। माँ ने कहा, “क्या लिया, क्या नहीं लिया, पता नहीं, लेकिन कुछ लिया जरूर था। यहाँ से धानकोड़ा के जमींदार के यहाँ गयी थी, वहाँ एक स्त्री के हाथ में कुछ दिया, जब वहाँ कीर्तन खत्म हो गया तो लौटते समय एक डिप्टी के यहाँ गयीं, वहाँ एक रोगिणी थी, उसके बिस्तरे पर भी हाथ में से कुछ गिरा आयीं।” खोज करने पर पता चला कि पहले घर में गुलाब का फूल दिया था। दूसरे घर में चम्पा का फूल दिया गया, और वह रोगिणी अच्छी हो गयी।

इस प्रसंग में माँ ने कहा, “आकुलता का भाव ही पूजा-अर्चना का प्राण है। अन्तर में ही महाशक्ति का स्रोत है एवं सकल चेष्टाओं ही में सृष्टि, स्थिति और प्रलय के मूल विद्यमान हैं।”

अन्य एक दिन की बात है। मेरी बीमारी के दिनों में पिताजी ने आदेश किया कि रोज शाहबाग से मेरे लिए अन्नप्रसाद आयेगा। वहाँ भोग लगते-लगते एक-दो बज जाते थे। फिर घर आने तक और भी देरी होती थी। रोज प्रसाद की इन्तजारी में

इतनी देर तक बैठना सबको बुरा लगता था। पूर्णिमा का भोग रात को लगता था। उस दिन प्रसाद के बारे में घर में बहुत कुछ आलोचना हुई। मुझे दुःख होने लगा कि इतने गोल-माल के भीतर प्रसाद लाने का कुछ प्रयोजन नहीं है। उस रात को दो बज गये और शाहबाग से प्रसाद नहीं आया। मेरे मन में ऐसा भाव उठा कि आज शाम को मैं जो प्रसाद के प्रयोजन के विरुद्ध सोच रहा था उसी कारण शायद प्रसाद बन्द हो गया। मैं खूब रोने लगा। देखा आधे घण्टे में ही प्रसाद आ गया। पीछे सुना कि ११ बजे जब प्रसाद भेजने के लिए माँ की अनुमति माँगी गयी तो उन्होंने मना कर दिया। अभी-अभी माँ ने बिस्तर से उठकर आदेश दिया “जल्दी जाकर ज्योतिष को प्रसाद दे आओ।” तब रात के तीन बजे थे। इस प्रसंग में माँ ने कहा था “मैं तो स्वेच्छा से कुछ नहीं करती, तुम लोग अपने ही भाव से हँसने और रोने की सृष्टि करते हो।”

मैं आबहवा बदलने के लिए विन्ध्याचल गया। कलकत्ते में माँ से भेंट होने पर उनसे विन्ध्याचल आने की प्रार्थना की थी, लेकिन उन्होंने इनकार कर दिया। मैंने विन्ध्याचल पहुँच कर एक रात रोते-रोते सुबह कर दिया। एक दिन बाद ही माँ और पिताजी वहाँ आ पहुँचे।

इस उपलक्ष्य में माँ ने कहा, “मैं” को हटाकर ही “तुम” को पाया जाता है। साधन भजन का लक्ष्य ही है अहंकार चूर करना।”

विन्ध्याचल से मैं चुनार गया, माँ भी वहाँ आयीं। मुझसे बोलीं “तू घूमने तो जा।” मैंने कहा, “शरीर में तो बल है नहीं

कैसे चलूँगा।" माँ अगले दिन सुबह मुझे साथ लेकर बाहर चलीं। समतल तथा पहाड़ी भूमि में पाँच छ मील घूम कर ११ बजे के समय अपने स्थान को लौटे। पहाड़ से उतरते समय मेरे पैर बढ़ने को इनकार कर रहे थे। माँ पीछे मुड़ कर बोलीं, "और ज्यादा दूर नहीं है।" तब वहाँ इक्के का अड्डा न होने पर भी दस मिनट में इक्का मिल गया। अन्यथा एक मील और चलकर गाड़ी मिलती। मुझे आशंका हुई कि इतनी दूर चलने से कहीं फिर बीमारी न बढ़े। किन्तु कुछ नहीं हुआ।

इस प्रसङ्ग में माँ ने कहा "कर्म और धर्म दोनों क्षेत्रों में धैर्य ही प्रधान अवलम्बन है।"

चुनार में अपने स्थान से कुछ दूर एक पेड़ के नीचे रात के नौ बजे पिताजी, मैं और माँ बैठे हुए थे। माँ बोलीं—“मैं चुनार फोर्ट के कुएँ के पानी से स्नान करूँगी”, फिर बच्चों की तरह जिद करने लगीं। मैं बोला, “घर के नौकर को बुलाऊँ।” माँ बोलीं “ना ! यह नहीं होगा।” मैं महाचिन्ता में पड़ गया। कारण इस स्थान पर सन्ध्या के पहिले ही सब पानी खींच ले जाते हैं। मुझे दुःख होने लगा कि माँ का यह अनुरोध शायद पूरा न कर सकूँगा। उनके श्रीचरणों में प्रार्थना करने लगा। इतने में क्या देखा कि एक आदमी हाथ में लालटेन, रस्सी, बाल्टी लिये कुएँ का पानी लाने आ रहा है। उसकी खुशामद कर पानी मँगवाया और माँ को स्नान करवाया।

इस प्रसंग में माँ ने कहा “कुछ चाहने से ही मिल सकता है, लेकिन वंह चाहना मन से मुँह से सब भावों को एक करके चाहना होना चाहिये।

मैं पीड़ित अवस्था में गिरिड में था। एक दिन माँ को देखने के लिए प्राण बड़े व्याकुल हुए। तभी एक दिन देखता हूँ कि माँ सदलबल आ उपस्थित हुई।

इस प्रकार निरन्तर बहती हुई अहैतुकी कृपाधारा ने कितने सन्तप्त प्राणों को शान्ति दी उसकी सीमा नहीं है।

मैं कलकत्ता आया। डाक्टरों ने परीक्षा कर कहा कि नौकरी की कोई जरूरत नहीं है। किसी अच्छी जगह आराम से रहो यदि बचना चाहते हो। उस समय खाँसी के साथ खून आता था।

माँ ने आदेश किया “तू फिर से आकर अपना काम देख।” ढाका आकर पहले दिन जब मैं आफिस गया तो माँ और पिताजी मुझे साथ ले जा कर कुर्सी पर बैठा आये।

तब फिनले साहब बंगाल के कृषि विभाग के डाइरेक्टर थे एवं मेरे अफसर भी। वे मुझसे स्नेह करते थे तथा खूब मानते भी थे। आफिस के कामकाज के विषय में उन्होंने कहा “तुम जितना कर सको उतना करना, बाकी मेरे पास भेज देना।” एक बार उन्होंने मुझसे पूछा “अच्छा बताओ कि इतने कठिन रोग से तुम किस प्रकार मुक्त हुए।” मैंने कहा, “रमना आश्रम में जो माताजी हैं उनकी कृपा से। उन्होंने कोई दवा, ताबीज या कवच मुझे नहीं दिया। यद्यपि डाक्टरों की दवा भी हो रही थी, किन्तु बीमारी के शुरू से आखिर तक उनकी कृपादृष्टि ही मेरा एकमात्र सहारा था।” साहब ने मुझसे कहा, “अविश्वास करने की जरूरत नहीं है, हम लोगों के यहाँ भी इस प्रकार की कृपा के विषय में सुना जाता है।”

एक सन्ध्या को मेरे पड़ोसी अस्सी बरस के वृद्ध श्यामाचरण मुखोपाध्याय हमारे घर आये। माँ का प्रसङ्ग उठने पर मैंने उनसे कहा, “माँ की कृपा ही से आज तक मैं जीवित हूँ।” वे बोल उठे, “किसी की कृपा से किसी की उमर बढ़ जाती है?” आलोचना करते करते ही वे सहसा चुप हो गये तथा थोड़ी देर बाद ही चले गये। सुबह फिर आकर मुझसे बोले “कल हठात् मैं ऐसे क्यों चला गया। जानते हो? जब हम लोगों का वाद-विवाद हो रहा था, तब मैंने तुम्हारी कुर्सी के पीछे दीवाल पर सूर्य की तीव्र ज्योति की तरह एक गोलाकार प्रकाशपुंज देखा। तब बाहर अँधेरा था, कमरे में भी प्रकाश न था, चारों तरफ देखने पर भी उस प्रकाश का कोई कारण नहीं मिला। तब मैंने सोचा कि तुमको बताने से पहले मैं स्वयम् एक बार चिन्ता करके देखूँगा। कल रात को सोचते-सोचते इस निर्णय पर पहुँचा कि महापुरुषों की कृपा से सब सम्भव है। यथार्थ में तुम पर माँ की असीम कृपा है। एवं वे तुम्हारी हर समय रक्षा करती हैं।”

माँ के साथ प्रथम साक्षात् के तीन चार महीने बाद निरंजन ने एक दिन शाहबाग में माँ से कहा, “माँ! अनेक समय यह इच्छा होती है कि आपका आश्रम बन जाने पर मैं और ज्योतिष मर कर उस आश्रम में ब्रह्मचारी बन कर रहें।” माँ मेरी ओर देख कर बोलीं “तू चुप क्यों बैठा है, क्यों इस शरीर से ऐसा नहीं कह सकता?” तीन चार साल बाद बीमारी से मुक्त हो काम-काज शुरू कर देने पर एक दिन उसी बात की याद दिलाकर माँ बोलीं “देखा, कैसे तेरा पुनर्जन्म हुआ।” इसके बाद माँ के गले में जो एक सोने का हार जनेऊ की तरह था उसे हाथ में लेकर बोलीं

“इधर तो आ, मैं तुझे यह जनेऊ पहनाये देती हूँ, आज से तू ब्रह्मचारी हुआ।”

आश्रम में जिस छोटी सी छोपड़ी में माँ रहती थीं उसकी जमीन अपनी बुद्धि से मैंने ठीक कर दी थी। कमरे की लम्बाई आठ हाथ तथा चौड़ाई साढ़े पाँच हाथ थी, चारों तरफ बरामदे थे, माँ उसके दोनों तरफ सोती थीं। माँ ने पहले बताया था कि अतीतकाल में जो संन्यासी यहाँ थे उनमें से मैं भी एक था। बहुत दिन बाद कथा-प्रसङ्ग में माँ ने अपने सोने की जगह को लक्ष्य कर कहा “इस देह के आने के पहले ही तूने अपने भाव और कर्मों की पूर्ति के लिए स्थान अपने लिए ठीक किया था।” मेरा कितना बड़ा सौभाग्य कि माँ ने स्थूल शरीर से मेरी जन्मान्तर की अध्यात्म कर्म-भूमि पर आसन ग्रहण किया है। मेरी तपस्या भी यही थी। कारण जिस दिन उनके श्रीचरणों का दर्शन किया उसी दिन माँ मुझे सर्वदेवमयी लगी थीं।

१९२९ ई० के अन्तिम भाग से प्रायः तीन वर्ष तक मातृ-दर्शन की आकांक्षा लिये हुए मैं खूब सबेरे रमना आश्रम जाता था। इसके लिए रात को प्रायः दो बजे ही उठ कर नित्य कर्म समाप्त कर साढ़े चार बजे चल देता। किसी दिन घड़ी गलत देख कर ही चल पड़ता। और रास्ते में किसी के घर का घण्टा सुन कर पता लगता कि अभी तो काफी रात है। तब या तो रमना की परिक्रमा करता, नहीं तो रमना काली-बाड़ी के दरवाजे पर बैठ सुबह होने की प्रतीक्षा करता। प्रायः पाँच बजे आश्रम जाकर माँ के साथ इधर-उधर मैदान में घूम कर साढ़े दस या ग्यारह बजे घर लौटता। किसी किसी दिन बारह एक भी बज जाता। तब माँ

के सामने संकोच-वश नहीं बैठता, शरीर किसी अज्ञात आनन्द से भरकर खड़ा ही रहना चाहता, कोई यदि बैठने को कहता तो संकोच लगता। मैं किसी किसी दिन ही बात-चीत करतीं, अधिकांश समय वह चुप ही रहतीं। मैं भी पीछे-पीछे चुपचाप चलता। एक दिन एक वृद्ध वकील (स्व० अश्विनीकुमार गुह ठाकुरता) सुबह मैदान में घूमते हुए मैं से बोले, “मैं तुम्हें देखने नहीं आता, बल्कि तुम्हारे इस बछड़े को देखने आता हूँ; जो सरदी, गरमी, बरसात में भी रोज इतनी दूर आता है, तुम्हारे संग संग चलता है, उसे देख मुझे बड़ा आनन्द होता है।” मैंने उनसे कहा, “ऐसा आशीर्वाद दीजिए तो मेरा शेष जीवन भी इसी तरह कट जाय।” वृद्ध ने मुझे छाती से लगा लिया और गद्गद् कण्ठ कहा “तुम धन्य हो।”

अनेक बार देखा कि रात के अन्तिम पहर में खूब वृष्टि हो रही है। मैं माँ का नाम स्मरण कर चल दिया और आगे कुछ देर के लिए मेह बन्द हो गया। बरसात क्या भीषण सरदी में भी माँ के दर्शनों के नित्य कर्म में प्रायः तीन साल तक कोई बाधा नहीं हुई।

उन दिनों एक महीने तक ढाका में हिन्दू मुसलमानों का झगड़ा चला था। इस झगड़े के होने से पहले एक दिन माँ सहसा बोल उठीं, “भयानक !” ऐसा बोलने का कारण पूछने पर माँ बोलीं, “मुझे ऐसा दीख रहा है कि शहर में घर-घर हाहाकार मच रहा है।” बाद में जब झगड़ा बहुत बढ़ गया, इतनी विभीषिका में भी मेरा आश्रम जाना बन्द नहीं हुआ। मेरे पड़ोसी श्रीयुत भवानी प्रसाद नियोगी मुझसे छोटे भाई की तरह स्नेह करते थे। वे प्रायः

मुझसे कहते, “तुम जब तक नहीं लौट आते तब तक मुझे आशंका रहती है। शहर में इतनी मारकाट हो रही है, ऐसे समय इतने सुबह बाहर जाना क्या ठीक है ?” मैं सोचता जब माँ ने ही इस विषय में मुझे निषेध नहीं किया तब निश्चय ही मेरे लिए कुछ भय नहीं है। मैं अपने क्रम से जाता रहा।

एक दिन आश्रम जा रहा था। रास्ते में बिंजली बत्तियाँ जल रही थीं। रास्ता निर्जन था। ढाका डाक बैंगलो से १०० गज आगे चल कर मैंने देखा कि मेहगनी पेड़ के पीछे से एक बलिष्ठ आदमी ने जिसका सब शरीर कपड़े से ढँका था मेरा पीछा किया। उससे पूछने पर कि ‘वह कहाँ जायगा’, ‘मैं भी आपके साथ जाऊँगा।’ मैंने कहा, “मैं तो रमना आश्रम जा रहा हूँ। वह बोला, “मैं भी जाऊँगा।” तब मुझे डर लगा। पीछे मुड़ कर देखा कि वह मेरे बहुत निकट आ गया था। इसी समय मैं जोर से चिल्ला उठा, “नहीं, तुम मेरे साथ नहीं जा सकते।” ऐसा कह मैं जल्दी जल्दी चलने लगा। मैंने इधर-उधर नहीं देखा, बहुत दूर जा मुड़कर देखा कि वह आदमी कठपुतली की तरह उसी जगह खड़ा है। रमना आश्रम जाकर देखा तो स्नेहमयी जननी फाटक पर खड़ी मेरी ओर देख रही हैं। मैंने श्रीचरणों में प्रणाम किया और घटना बतायी। वे चुप रहीं। कुछ दिन बात सुना कि उस जगह एक खून हुआ था।